

साहित्य और सिनेमा

अजय कुमार चौधरी

सिनेमा का इतिहास बहुत पुराना नहीं होते हुए भी इतने कम समय में समाज को जिस तरह प्रभावित किया है वह अकल्पनीय है. सिनेमा हमारे सामाजिक जीवन को इस तरह प्रभावित किया है कि हम उसी के काल्पनिक दुनिया में सैर करते हुए वास्तविक धरातल कि तलाश करते हैं. सिनेमा न केवल समाज को बल्कि समाज के प्रत्येक बिन्दुओं को अपने तरफ आकर्षित किया है, चाहे वह हमारी संस्कृति हो, जीवन शैली हो, साहित्य हो, परंपरा हो, आर्थिक व्यवस्था हो सबको नयी आयाम दी है. सिनेमा के द्वारा ही हम नए समाज की तलाश में भटक रहे हैं. सिनेमा ने मजह 100 वर्षों में जिस बुलंदियों को छु रहा है साहित्य उसके पीछे दौड़ लगती, थकती सी प्रतीत हो रही है. ऐसा नहीं है कि सिनेमा साहित्य से अलग है, यह भी साहित्य का अभिन्न अंग है लेकिन यह अंग आज जितना अकर्षणीय बन गया है कि शरीर के तरफ बुद्धिजीवियों के अलावा अन्य किसी का ध्यान खींच पाने में असक्षम महसूस कर रहा है. सिनेमा जहां समाज को प्रभावित किया है वहीं यह अर्थ व्यवस्था का सुदृढ़ नींव बन गया है. सिनेमा वैश्विक अर्थव्यवस्था तक को प्रभावित कर रहा है, नवयुवकों को रोजगार मुहैया करा रही है. पर जब सिनेमा का संबंध साहित्य से जोड़ते है तो कई बिन्दुओं से इनकी आंतरिक सम्बन्धों के तानेबाने के कई परतों को खोलना होता है, ऐसे जगहों पर आकार ही सिनेमा और साहित्य के संबंध तित्त हो जाते है. “सिनेमा ने अपने आरंभिक चरण में साहित्य से ही प्राण-तत्व लिया. यह उसके भविष्य के लिए ज़रूरी भी था. दरअसल सिनेमा और साहित्य की उम्र में जितना अधिक अंतर है, उतना ही अंतर उनकी समझ और सामर्थ्य में भी है. विश्व सिनेमा अभी सिर्फ 117 साल का हुआ है. साहित्य की उम्र से इसकी तुलना की जाय तो यह अभी शिशु ही है साहित्य के सामने.” शिशु होने के बावजूद यह समाज के नब्ज पकड़ने में सक्षम है. सिनेमा की बौद्धिकता इतनी विकसित हो गई है कि अब वह साहित्य का पल्लू छोड़कर स्वतंत्र हो रहा है. अब यहीं एक प्रश्न मेरे मन में तैर जाती है कि साहित्य और सिनेमा का संबंध कैसा था ? कैसा है ? और कैसा रहेगा ? इन्हीं तीन बिन्दुओं पर विचार करने पर सिनेमा और साहित्य का अंतरसंबंध स्पष्ट हो पाएगा.

सिनेमा अपने प्रारम्भिक दौर में साहित्य के विभिन्न विधाओं को आधार बनाकर अपनी यात्रा शुरू किया. पहले पहल सिनेमा ने पौराणिक कथाओं पर आधारित फिल्में बनाई. सन् 1912 में मुंबई के "रामचन्द्र गोपाल टोन" द्वारा निर्मित फ़िल्म "पुंडलीक" को अपार सफलता मिली। यह फ़िल्म महाराष्ट्र के ख्यातिप्राप्त हिंदू संत के जीवन पर आधारित "रामाराव किर्तीकर" द्वारा लिखित नाटक पर आधारित थी। इसके बाद दादा साहब फाल्के द्वारा निर्मित "राजा हरिश्चंद्र" फिल्म प्रदर्शित की गई. हालांकि हरिश्चंद्र को भारतीय सिनेमा में पहली फिल्म मानी गई है लेकिन इसके पूर्व "पुंडलीक" फिल्म का निर्माण हो चुका था, दुर्भाग्य से इस फिल्म का छायाकर भारतीय न होकर विदेशी होने के कारण इसे भारतीय सिनेमा में प्रथम स्थान नहीं मिला. पौराणिक चरित्रों को केंद्र में रखकर बनाई गई फिल्में- भक्त प्रह्लाद, शिव महिमा, विष्णु अवतार, रामायण, उत्तर रामायण, कृश्ञ्जम, कालिया मर्दन, संत तुकाराम, संत नामदेव, भक्त प्रह्लाद आदि जैसी बहुचर्चित फिल्में बनी. सन् 1931 में भारत में सवाक् फ़िल्मों का आरंभ



"आर्देशिर ईरानी" द्वारा निर्मित फ़िल्म "आलम आरा" से हो गया था। भारतीय सिनेमा का स्वरूप बहुत तेज़ी से बदलने लगा था। दर्शक अधिक से अधिक सवाक् फ़िल्मों की प्रतीक्षा करने लगे। अब दर्शकों का रुझान बदला तो फिल्म पौराणिक घटनाओं से हटकर सामाजिक समस्याओं पर आकार डटे। सामाजिक को केंद्र में रखकर कई बहुचर्चित फिल्में बनी जो समाज को नई दिशा देने में सक्षम थे। मंथन ,खानदान ,ममता ,किस्मत ,नादान,नौकर, जमीन ,दोस्त ज्वार-भाटा ,जुगनू,नौका डूबी ,बरसात ,जीत आदि सुपरहिट फिल्में आईं। सामाजिक फिल्मों के साथ-साथ ऐतिहासिक फिल्में भी आ रही थी जैसे-सिकंदर, अनार काली ,मुगल-ए -आलम आदि। सामाजिक फिल्में कि इस दौर में रोमांटिक फिल्में दर्शकों को ज्यादा पसंद आने पर रोमांटिक फिल्मों का एक नया दौर शुरू हो गया। रोमांटिसिज़्म ने भारतीय फिल्मों को इतना प्रभावित किया कि आज भी वो फिल्म के मूल तत्व है।

अब रही बात साहित्य और सिनेमा की ,तो कई साहित्यकार अपने कलम को आजमाने मुंबई गए ,लेकिन किस्मत ने साथ नहीं दिया। पर कुछ साहित्यकार ने फिल्म में अपनी जगह बनाई तो मैं इसे अपवाद ही मानूंगा। साहित्य जगत के प्रसिद्ध कथाकार मुंशी प्रेमचंद जैसे मूर्धन्य साहित्यकार भी इस रंगीन दुनिया से बच नहीं सके और अपनी कलाम की जादूगरी दिखाने 1933 अजंता मूवी टोन,बंबई (मुंबई) पहुँच गए। वहाँ पहुँच कर उन्होंने फिल्म जगत के जगत के लिए कहानी लिखना शुरू किए।प्रेमचंद की कहानी पर मोहन भावनानी के निर्देशन में फिल्म 'मिल मजदूर' बनी। निर्देशक ने मूल कहानी में कुछ बदलाव किए जो प्रेमचंद को पसंद नहीं आए। फिर अंग्रेजों के सेंसर ने फिल्म में काफी काँट-छाँट कर दी। इसके बाद फिल्म का, जो स्वरूप सामने आया उसे देख प्रेमचंद को काफी धक्का लगा। उन्होंने कहा यह प्रेमचंद की हत्या है। प्रेमचंद की यह कहानी फिल्म के निर्देशक और मालिक की कहानी है। इस फिल्म पर मुंबई में प्रतिबंध लग गया और पंजाब में यह 'गरीब मजदूर' के नाम से प्रदर्शित हुई।प्रेमचंद अपनी आत्मा को बेच नहीं सके और एक वर्ष के बाद ही वह वापस आ गए। 28 नवंबर, 1934 को जैनेंद्र कुमार को लिखे एक पत्र में प्रेमचंद कहते हैं-
“फिल्मी हाल क्या लिखूं? *मिल* (बाद में *मजदूर* नाम से जारी चलचित्र) यहां पास न हुआ। लाहौर में पास हो गया और दिखाया जा रहा है। मैं जिन इरादों से आया था, उनमें से एक भी पूरा होता नजर नहीं आता। ये प्रोड्यूसर जिस ढंग की कहानियां बनाते आए हैं, उसकी लीक से जौ भर भी नहीं हट सकते। ‘वल्गैरिटी’ को ये ‘एंटरटेनमेंट बैल्यू’ कहते हैं... मैंने सामाजिक कहानियां लिखी हैं, जिन्हें शिक्षित समाज भी देखना चाहे; लेकिन उनकी फिल्म बनाते इन लोगों को संदेह होता है कि चले, या न चले!”

1934 में प्रेमचंद की ही कृतियों पर 'नवजीवन' और 'सेवासदन' बनी लेकिन और दोनों फिल्में फ्लॉप हो गईं। 1941 में ए.आर. कारदार ने प्रेमचंद की कहानी 'त्रिया चरित्र' को आधार बना कर 'स्वामी' नाम की फिल्म बनाई जो चली नहीं। यही हाल 1946 में प्रेमचंद के उपन्यास 'रंगभूमि' पर इसी नाम से बनी फिल्म का हुआ। इस बीच उपेंद्रनाथ अशक, अमृतलाल नागर, भगवती चरण वर्मा और पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' फिल्मों में हाथ आजमाने पहुँच चुके थे। फिल्मिस्तान में काम करते हुए अशक और किशोर साहू के साथ लेखन करने वाले अमृतलाल नागर सिनेमा की आवश्यकताओं और सीमाओं को समझ चुके थे। इसलिए वे कुछ समय तक वहाँ टिके रहे। हालाँकि इस दौरान उन्होंने किसी साहित्यिक कृति को सिनेमा में नहीं बदला बल्कि डायरेक्टर और प्रोड्यूसर की मांग के मुताबिक पटकथा और संवाद लिखते रहे। उग्र अपने विद्रोही और यायवरी मिजाज की वजह से बहुत जल्द मुंबई को अलविदा कह आए। भगवती चरण वर्मा भी साल भर में ही वापस लौट आए।

प्रेमचंद के बाद उपेंद्र नाथ अशक ,भगवातीचशरण वर्मा भी फिल्म के लिए लिखते रहे किन्तु “चित्रलेखा” के अलावा उनकी और कोई फिल्म हिट नहीं हुई। साहित्यिक कृतियों पर बने फिल्म पीट जाने के बाद निर्देशक इस आधार पर फिल्म बनाने से कतराते रहे। कुछ निर्देशकों ने हिम्मत भी दिखाई तो उनको असफलता ही उसके हाथ लगे। चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था' पर इसी नाम से फिल्म बनी, आचार्य चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास पर 'धर्मपुत्र' फिल्म बनी, रेणु की 'कहानी मारे गए गुलफाम' पर 'तीसरी कसम' बनी और तीनों फिल्मों बुरी तरह फ्लॉप रहीं। 'तीसरी कसम' को भले ही उसकी श्रेष्ठता के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार भी मिला. फिल्मों के लिए कई कहानियाँ लिख चुके और फिल्मों बना चुके कहानीकार राजेंद्र सिंह बेदी की कृति 'एक चादर मैली सी' पर भी जब फिल्म बनी तो वह भी फ्लॉप साबित हुई।

प्रेमचंद के मृत्यु के पश्चात सत्यजित राय ने “शतरंज के खिलाड़ी” फिल्म बनाई जो दर्शकों द्वारा खूब सराहा गया. केवल प्रेमचंद ही नहीं बल्कि बंगला के कई साहित्यकारों के उपन्यासों पर फिल्म बनी जो अपनी प्रसिद्धि का परिचायक स्वयं है। शरतचंद्र के उपन्यास “देवदास” को कई भाषाओं में बनाया गया और अब तक कई सेलुलाइड पर उतारा जा चुका है. हर बार दर्शकों द्वारा सराहा गया है। इसके अलावा “परिणीता”, रवीन्द्रनाथ के पाथेर पांचाली, चोखेर बाली ,नौका डूबी कई साहित्यिक कृतियों के आधार पर सफल फिल्में बनी। इकबाल रिजवी आगे कहते हैं “ साहित्यिक कृतियों पर फिल्म लेखन करवाना आसान काम नहीं है इसके लिए पहली शर्त है निर्देशक और प्रोड्यूसर का कृति के मर्म तक पहुँचना और साहित्यकार की मानसिक बुनावट को समझ पाना और बाजार के दबाव और मनोरंजन के तकाजों के बीच साहित्यकार की सोच के साथ इंसाफ करना.” सिनेमा में हिंदी साहित्यकारों का असर सातवें दशक में नजर आता है। इसका प्रणेता अगर कमलेश्वर को कहा जाए तो गलत नहीं होगा। उपेंद्रनाथ अशक और अमृतलाल नागर के बाद कमलेश्वर ही वह महत्वपूर्ण हिंदी साहित्यकार थे जिन्होंने सिनेमा की भाषा और जरूरत को बेहतरीन ढंग से समझा। मुंबई में रहने के दौरान वह ऐसे फिल्मकारों के संपर्क में आए जो साहित्यिक रुचि रखते थे। कमलेश्वर के उपन्यास 'एक सड़क सत्तावन गलियाँ', 'बदनाम बस्ती' (1971) और 'डाक बांग्ला' (1974) बनीं लेकिन सफल नहीं हो सकीं। उनकी कहानी पर और भी फिल्में बनीं लेकिन जब गुलजार ने कमलेश्वर की कृति पर 'आंधी' और 'मौसम' बनाई तो दोनों फिल्मों मील का पत्थर साबित हुईं। आम दर्शक और बौद्धिक वर्ग दोनों ने इन फिल्मों को सराहा। सातवें दशक के बाद बसु चटर्जी ने मन्नू भण्डारी के कहानी “यही सच है” के आधार पर "रजनीगंधा" और राजेन्द्र यादव के उपन्यास पर आधारित "सारा आकाश" सरहनीय रही. आठवें दशक तक आते आते बासु चटर्जी, हृषीकेश मुखर्जी, गोविंद निहलानी, श्याम बेनेगल, अरुण कौल, गुलजार जैसे फिल्मकारों के होते हुए भी हिंदी फिल्मों भारी हिंसा और घटिया हास्य से लहलुहान होने लगीं। कलात्मक फिल्मों का गला रूंधने लगा. नवें दहसक तक आते आते साहित्यिक कृतियों पर आधारित फिल्मों नदारत होती गई. इधर कुछ साल पहले चेतन भगत के उपन्यास पर आधारित "श्री ईडीओट्स" तो काफी सफल रही लेकिन टू स्टेट्स, कई पो छे फ्लॉप हो गई.

बॉलीवुड में शुरू से हिंदी साहित्य पर आधारित फिल्मों बनती रही हैं. यही नहीं, विदेशी लेखकों के उपन्यास और नाटकों पर आधारित फिल्मों भी बनती रही हैं. जहां एक ओर शरत चंद्र, रवींद्रनाथ टैगोर, बिमल राय, के आर नारायणन, चेतन भगत जैसे कई लेखकों की रचनाओं पर अब तक काफी फिल्मों बन चुकी हैं, वहीं दूसरी ओर शेक्सपियर, रस्किन बॉन्ड जैसे कई विदेशी लेखकों की रचनाओं पर भी फिल्मों बन चुकी हैं. विशाल भारद्वाज की

फिल्म ओमकारा और मकबूल जहां सेक्सपियर के नाटक ओथैलो और मैकबेथ पर आधारित थीं, वहीं विशाल भारद्वाज की ही एक और फिल्म सात खून माफ, रस्किन बॉन्ड की कहानी सुजैना सेवेन हसबैंड पर आधारित थी।

निष्कर्षतः रूप से कहना चाहता हूँ कि सिनेमा और साहित्य का धरातल अलग-अलग है। सिनेमा शुद्ध मनोरंजन प्रधान होता है जिसमें दर्शकों के मांग का ख्याल रखा जाता है, दर्शक को जो चाहिए फिल्म इंडस्ट्री वहीं परोसता है जिसका सीधा संबंध व्यवसाय से होता है, जबकि साहित्य संवेदना और अनुभूति प्रधान होता है, साहित्य दर्शकों के मांग पर नहीं बल्कि साहित्यकार अपनी निजी संवेदना और अनुभूति को केंद्र में रखकर समाज के यथार्थ रूप को सामने लाने का प्रयास करता है। दो धरातल पर होने के बावजूद साहित्य और सिनेमा कई विंदुओं पर मिल भी जाता है। सिनेमा कल्पना प्रधान है, भावों की अभिव्यक्ति के लिए ऐसे दृश्यों का निर्माण कर दिया जाता है जो शब्दों के द्वारा संभव नहीं है। वहीं साहित्य शब्दों के माध्यम से जिस वातावरण का निर्माण करता है उसे दृश्यरूप में लाना फ़िल्मकारों के लिए कभी-कभी चुनौती भी बन जाती है। साहित्यकार शब्दों के जिस वातावरण का निर्माण करता है उसे पाठक अपनी-अपनी कल्पना द्वारा अलग-अलग भाव और दृश्य मन में बनाते हैं। जबकि फ़िल्मकार द्वारा तैयार किया गया वातावरण दर्शकों के लिए एक जैसा होता है। फ़िल्मकार अपने अनुभव के द्वारा साहित्य से ली गई सामग्री का ज्यों का त्यों रूपान्तरण नहीं करता है या करना नहीं चाहता है क्योंकि वह साहित्य को फिल्म के रूप में परोसना चाहता और साहित्य फिल्म के साँचे में पूर्णरूप से उतर नहीं पता और यहीं से साहित्य और सिनेमा का अंतर्संबंध में विलगाव उत्पन्न हो जाता है। उदाहरण, अभी हाल ही में एक मूवी आई थी 'बाहुबली' इस फिल्म में जिस तकनीक के प्रयोग से जिस वातावरण का निर्माण किया गया है उसे हूबहू साहित्य में उतार पाना बड़े से बड़े लेखकों के चुनौती है। ऐसे जगह पर आकार ही साहित्य अपनी सीमा का जान पाती है। फिल्म समीक्षक विमलेंदु विमलेंदु जी ने साहित्य और सिनेमा के अंतर्संबंध को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "साहित्य और सिनेमा का सम्बंध भी दो पड़ोसियों की तरह रहा। दोनों एक दूसरे के काम तो आते रहे लेकिन यह कभी सुनिश्चित नहीं हो पाया कि इनमें प्रेम है या नहीं।" हालांकि सिनेमा अपने अपने शिशुत्व अवस्था में साहित्य को अपनी धात्री के रूप में अपनाकर प्राणतत्व को प्राप्त किया, पर सिनेमा रूपी शिशु विकसित होकर वयस्क गया है, अब हम अपना अलगा अस्तित्व तलाश ली है। सम्बन्ध को विकसित करने में गीत, कविता, नाटक और उपन्यास की चर्चा भी अक्सर होती रही है, लेकिन फिल्में केवल उपन्यासों उमेश राठौर लिखते हैं, 'फिल्म और साहित्य' के परस्पर लगाव का प्रश्न सदैव से ही जीवन्त रहा है। इस पर ही नहीं बनी-कथाओं पर भी निर्मित की गईं वहीं फिल्म समीक्षक इकबाल रिजवी का मानना है "हिंदी में साहित्यिक कृतियों पर सबसे कम सफल फिल्में बन पाई हैं।" इस तरह हम कह सकते हैं कि सिनेमा और साहित्य का अंतरसंबंध होते हुए भी दोनों अलग-अलग विंदुओं पर अलग हो जाते हैं। सिनेमा का फ़लक इतना विस्तृत है कि वो संसार के सारे कलाओं को अपने में समाहित किए हुए है। फ़िल्मकार बलराज साहनी इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "फिल्म-कला को 'ऑपरेशन टेबल' पर रखिए और उसकी चीरफाड़ कीजिए तो पता चलेगा कि फिल्म-कला दरअसल एक कला का नाम नहीं, बल्कि अनगिनत कलाओं के समूह का नाम है।"

सहायक प्राध्यापक, हिन्दी, पी0 एन0 दास कॉलेज, पलता, शांतिनगर, बंगाल एनमेल, उत्तर 24 परगना, पिन-743122, मोबाइल -8981031969, Email- ajaychoudharyac@gmail.com